

यहां हाथी रहते थे

गीतांजलि श्री

इस शहर को दंगों ने मशहूर कर दिया। दंगों की बिना पर नहीं, दमक ठसक की बदौलत। जो बेशक दंगों के कारण आयी। न होता शहर घिचपिच तो ऐसी तबाही न मचती। न मचती तो ऐसी सफाई न होती। सम्प्रदाय इतनी सफाई से बंट गये कि शहर चमक गया। एक नदी के इस पार, एक उस पार, और दोनों अपनी जगह, अपनी पहचान में पक्के। मानो दोनों तरफ कारखाने लग गये हों अपने अपने कायदे के लिबास और मुखौटों के और सब के सब अपने यूनिफार्म में नजर आते। सब के सब एक लिबास में, सब के सब एक मुखौटा पहने। इधर वालों का इनका, उधर वालों का उनका।

इस साफ बांट का नतीजा था कि इस शहर में तुम खुद को एकदम सुरक्षित पाते, दूर दूर तक अपने जैसों के बीच। अपने घर की, अपने बर्तन भाड़े, अपनी जानी पहचानी चीजों के बीच होने की सुरक्षा। यह पेड़ कौन से और फल सब्जी क्या और टट्टी किसकी, सबको देख के सुकून रहता। क्यों न रहता, इनकी खुशबू और रंगरूप से तुम परिचित हो, तुम्हारे आंख, कान, नाक में ये सहल उतरते हैं, तुम्हारी त्वचा पर नर्म फिसलते हैं।

ये जरूर है कि किसी चूल में या अनजान शेखी में या किसी उनींदे पल में, तुम उस तरफ निकल गये तो फिर... तो फिर मइया रे दइया और बप्पा रे बप्पा, यह शहर तुम्हें दिखलायेगा कि असुरक्षा का भाव कितना पुख्ता, कितना पूरा, कितना निखालिस हो सकता है। कुछ उसे छेदता नहीं, कोई बदली उस पर घुमड़ती नहीं, कोई धुआं उसे धुंधलाता नहीं। साफ, पाक, कोरा, सम्पूर्ण, कमाल का यह भाव असुरक्षा का, कि भटक आये जिस मुसाफिर को लग जाये, उसी का आकार प्रकार बदल के यों हो जाये— खाल पर बेसब्र दौड़ती घुमौरियां, सिर पर आसमान की तरफ लपकते बाल भयभीत, आंखें यों पलटी खार्यीं जैसे आगे को नहीं पीछे को देखती हों, और चाल जैसे चाकू ने दो हिस्सों में बांट दिया हो, तन का ऊपर का आधा बाप, डरा हुआ, भागता, नीचे का आधा बच्चा, लद्दड़, बाप की उंगली पर लटका, पीछे पीछे भचकता।

पर तुम्हें नींद में चलने की बीमारी है तो ही इस तरह भटकोगे। अमूमन इस मर्ज से यह शहर कभी ग्रसित न हुआ, चुस्त दुरुस्त फुर्ती से भरे इसके लोग। हां विदेशियों को जरूर इधर भी, उधर भी जाना पड़ जाता है, पर उनकी बात निराली है।

निराली और शहर की एक और खासियत से जुड़ी। वह है इस शहर का बड़ी तेजी से शांघाई के रूपरंग को अपनाना और शांघाई से भी आगे निकल जाने की दौड़ लगाना।

इस दौड़ में यह हो रहा है कि पुरानी सल्लनत, मुगलकालीन और तमाम तरह की देशी तर्ज और विलायती तर्ज की बेलबूटीदार इमारतें धराशायी हुई जाती हैं और उनकी खस्तगी से उठ गयी हैं नीली, शीशे की दीवारों वाली, ऊंची से भी ऊंची इमारतें, जिनमें घर हैं, ऑफिस हैं, शॉपिंग मॉल हैं, कम्प्यूटर हैं, एस्केलेटर हैं, फव्वारे हैं, हैमबर्गर हैं, और पेड़ हैं जो पेड़ नहीं हैं। और आसमान को माचिस की फांकों में काटती छतें हैं और शहर की साफ बांट को जरामुरा उलझाती देश के विदेशियों और विदेश के विदेशियों की तादाद है।

ये भी अपने में अजूबा है, चूँकि लगता यही है कि ये विदेशी लोग आसमान से आये हैं, इन नीली इमारतों में उतरने, और नीचे के लोग धरती से फूटे हैं, और यह भी दो अलग धाराएं हैं जिनके बीच शहर नया पुराना हो रहा है। पर मानो धाराओं को घेरे कोई नो मैन्स लैण्ड है जहां न इधर से, न उधर से, घुसपैठ होती है, इसलिए धाराएं टकराती नहीं, फंसती झगड़ती नहीं। जैसे इनमें भी अलग रहने का साझा हो।

तो एक फसल जिसकी जड़ें मिट्टी में, एक फसल जिसकी मिट्टी आकाश। दोनों अपने अनुकूल, माकूल पैदावार से, शहर को बाजार बनाते हुए, और मॉल और मल्टी नैशनल और नदी के इधर और उधर से झाँकते हुए, और कुल मिला कर शांघाई परेशान हैरान है कि अब तक तो हमीं थे, यह कौन हमसे आगे निकला जाता है? हाय अब गिनेस बुक में इसका नाम होगा? और विदेशी हमारे नहीं, इसके पास जाना चाहेंगे?

चर्चे शुरू हो चुके हैं कि यह शहर दुनिया के सुंदरतम शहरों में गिना जायेगा। वैश्विक आंकड़े ऐसे नतीजे निकालने लगे हैं।

ऐसे शहर में विदेशी न आये, कैसे हो सकता है? सैलानी आते हैं, कम्पनी वाले आते हैं। विदेशी विदेशी आते हैं, देशी विदेशी आते हैं। कॉरपरेट इस्त्री वाली यूनिफॉर्म में। विदेशी विदेशी की गोरी आंखें, गोरे बाल, गोरी त्वचा है, देशी विदेशी का मिलावटी पहनावा है, मिलावटी खानपान है, मिलावटी रहन सहन और जुबान है।

यही दो-में-एक नस्ल है जो नदी के दोनों और चलती फिरती है, अलबत देशी विदेशी मुका. बलतन ज्यादा नर्वस दीखते और उनके बाल खड़े हो जाते और सिर आगे भागता, धड़ पीछे उचकता। कुछ अहसास उन्हें हो भी आता कि हम नदी के इस पार के हैं कि उस पार के?

मैं इसी तरह का देशी विदेशी हूँ। मैं इस सारी राजनीति से परे रहना चाहता हूँ कि मैं कहां का और/या किधर का हूँ, देशी तो क्या, विदेशी तो क्या और नदी के इस पार का कि उस पार का? मैं यहां काम करने आया हूँ, एक जानी मानी इजरायली कम्पनी में, जो इन्श्योरेंस बेचती है और मुझे घर, टेलीफोन, मेडिकल, ट्रेवल सब देती है और जगह जगह दौरे पर भेजती है, जहां मैं पांच सितारा होटलों में ठहरता हूँ और मीटिंग के बाद जिम में कसरत करता हूँ या पूल में छपाके मारता हूँ या 'सौना' में पोर पोर से लाली फुटाता हूँ और साफ और ताजादम हो जाता हूँ। लड़ना झगड़ना मेरी फितरत नहीं, न मैं किसी की राह का रोड़ा बनूँ, न कोई मेरी राह में रुकावट बने, इतनी सी मंशा। कि रहने दो मुझे अपने काम में, अपने सपनों में, सी.ई.ओ. बनूँ, पैण्टहाउस में रहूँ, और एक दिन एक मॉडल से शादी कर लूंगा, मगर वह मॉडल दिखेगी, होगी नहीं, चूँकि मैं अभी जवान हूँ, एकदम जवान।

और वह बूढ़ी। बहुत बूढ़ी।

हो सकता है कि यह लम्बी चौड़ी भूमिका मैं उस तक पहुंचने के लिए बांध रहा था। क्योंकि जब कोई ठीक ठीक समझ न आये कि कौन है, और कहां की है, तो उस तक पहुंचना भी सीधे रास्ते, और जल्दी से, नहीं हो पाता। इधर उधर करते हुए ही उस तक पहुंचा जाता है। या उसके आसपास।

जो कुछ अजीब सी बात थी। जिस शहर में सबकी जगह पहले से निश्चित थी और स्पष्ट की पराकाष्ठा तक यह स्पष्ट था कि तुम यहां के, और तुम यहां के नहीं, वहां एक ऐसी शख्स जो कहीं ठीक फिट नहीं सूझ रही? या ऐसा भी कह सकते हैं कि कहीं भी फिट न लग रही है!

बड़ी आसानी से वह कहीं भी प्रकट हो जाती।

हैरानी। जहां दिख रही है वह कुछ अलग सा दृश्य लग रहा है, मगर साथ ही साथ नितांत मामूली भी। अजूबा सहज हो चला! जहां दिख रही है वह उसकी जगह नहीं है पर वही उसकी जगह हो चली है। वह कहीं भी हो सकती है और कहीं की भी हो सकती है। आज जहां है वहां की भी,

कल जहां दिखेगी वहां की भी। चाहे इस पार, चाहे उस पार।

हैरानी!

जहां दिख रही है अलग सा दृश्य है

नितांत मामूली भी

अजूबा है सहज मगर!

जहां दिख रही है वह उसकी जगह नहीं

वही उसकी मगर जगह हो चली है।

वह

कहीं भी हो सकती है कहीं

की भी

आज जहां वहां की भी कल जहां दिखेगी

वहां की भी

चाहे

इस पार या उस पार।

कमाल ही था कि असंगत लगे मगर बाहरी नहीं। इससे भी ज्यादा कमाल यह था कि कोई उसे छेड़ता नहीं, न वहीं से हट जाने को कहता, असमंजस में कि बेपरवाही में या क्या मामूली घबराहट में?

अब कैसे और क्या तो समझ कर उसे पेश करें, यह सवाल इधर जाऊं कि उधर जाऊं वाली तिलमिलाहट में फंसा हुआ। बस यह कि सब शहर उसे जानते हैं या कि पहचानते हैं कि लो आ गयी वही बूढ़ी और जैसाकि ऐसी बातों में होता है उसके बारे में अनगिनत किस्से कहे जाते हैं, और क्या मनगढ़ंत हैं, क्या जीवनउठंत, और कितने सच हैं, कितना नून तेल मिरच है, हम सुनने वाले क्या जान पाते?

इस शहर में किसी बुजुर्ग का इस तरह और इस कदर दिखायी पड़ना अनहोनी लग सकता था। यह शहर नयों— मेरे जैसे— के लिए है जिनकी कार्यकुशलता इसे ग्लोबल रिकार्ड कायम करने तक ले जा रही है और कल इसे गिनेस बुक में शामिल समझो और कल आया समझो। पुराना सब दब चुका था यहां। पुरानी यादें, नयी उम्मीदों के नीचे। पुराना थूक, नयी पीक में। पुरानी ईंट, नयी नीली चमकती इमारत में। जिनमें हम काम करते हैं, रहते हैं, खाते पीते सोते हैं। सुबह होती है तो चकाचक, आधुनिकतम, फ्लैट, अपने, का दरवाजा खोलते हैं तो सामने ठीक वैसा ही चकाचक, आधुनिकतम, अपार्टमेण्ट, पड़ोसी का, देखते हैं। जैसे आईना हो। पर है नहीं। और सामने खड़ा, मेरी ही जैसी फैंब इंडिया की निकर पहना, मैं नहीं हूं। हम एक दूसरे को जानते नहीं पर पहचानते हैं, जो अपनी शकल पहचान लेने जैसा है। हम दोनों के बीचोंबीच एक नीची ढाई तीन फुटहा मेड़नुमा दीवार है और उसने अपनी तरफ, मैंने अपनी तरफ, उस दीवार में लकड़ी की अलमारी बना ली है, जिसमें जूते और पुराने अखबार रख सकते हैं, और जिसके ऊपर गमले और बुजुर्ग।

मजबूत लकड़ी का चौड़ा सा 'कबार्ड'! यही वह जगह भी जहां घर के अब-लुढ़के-तब-लुढ़के बुजुर्ग बैठे मिलते, जब हम जैसे चुस्त व्यस्त, लिफ्ट से उतरते चढ़ते, युवक, ऑफिस की जल्दी में भाग रहे होते। बूढ़े भी ऐसे लगते जैसे इन्डोर प्लांट के गमले हैं, जिन्हें सुबह शाम जरा देर के लिए हवा धूप खाने बाहर रख दिया जाता है।

यही जगह भी बूढ़ों की और सब ऐसे बैठे मिलते कि परम संतोषी हैं और यादमुक्त भी।

बल्कि बात इस मोड़ पर आयी है, तो यह ख्याल आ रहा है कि याद कोई ऐसी चीज है जो इस शहर में शॉर्ट स्प्लाई में है शायद। हम युवकजन व्यस्त हैं, भविष्य अगले मोड़ पर मस्त है, पीछे

मुड़ें, इसका लमहा नहीं है और याद तो पीछे होगी, अगर होगी। खरोंच में, खंडहर में, खटखटाहट में। और इन बुजुर्ग गमलों की खोयी खोयी में, जो इस शांघाई होते शहर के किस काबिल, और बस चूंकि हम पारिवारिक रुझान वाले लोग हैं और अपने बेकार, बड़े बूढ़ों, गये बीतों, को भी प्यार और देखरेख देते हैं, इसलिए हैं कि उन्हें हवा धूप दिखाने, 'कबार्ड' पर रख देते हैं, रोजाना।

तो किसी को खास कुछ याद नहीं, इस शहर में, किसी के बारे में। कि कभी नदी के आर पार गांव थे, खेत और हाथी भी और पुल पर लिखा हुआ था 'यहां हाथी रहते हैं' और नर्म ताजी सब्जी खेत से हाट में लायी जाती थी, जो नदी किनारे लगता, और कभी तो आते जाते लोग रुक लेते, सामने तुड़वाते, कुछ खरीदते, कुछ चबाते, टोकरी में डलवा लेते, और बच्चे हाथियों को नहाते और सूंड से फव्वारे उछालते देख लेते, और शादी ब्याह के लिए जनता बोर्ड पढ़ के कि 'यहां हाथी रहते हैं' महावत से सौदा तय करने पुल के नीचे उतर आती, यह सारी बातें, किस्से किंवदंती की तरह भी, याद नहीं, समझिए।

याद हो भी क्यों जब वे सारे गांव वाले और खेत और हाथी और हाथी वाले जा चुके हैं। या हो सकता है शहर वाले बन चुके हैं और हाथी को किसी 'कबार्ड' में ताले के अंदर ठिकाने लगा दिया हो या मारकाट के शोरबे में गला गये हों! जैसे भी हो, पर वे सारे पुराने चिह्न नदी में गर्क हो गये हैं, और अब उसके किनारों पर जो सीमेण्ट और तारकोल की सड़क है वहां हाथी जितने सीमेण्ट के बड़े बड़े टब जैसे गमले हैं, लाइन दर लाइन, जिनमें शहरी फूलों की बहार है। उस पक्की सड़क पर चलो, नदी के संग संग तो भला कौन सी चीज याद दिलायेगी कि याद करो कभी यहां रेत मिट्टी की ऊबड़ खाबड़ कछार थी और जहां हमारे फैशनपरस्त कदम चल रहे हैं वहां बाढ़ आ जाती थी और बाढ़ में हाथी की लाश बह आती थी। किसी पुराने युग में?

क्योंकि पुराने का मतलब किसी इंची नाप से नहीं, कि डेढ़ हजार इंच पीछे तो पुराना। जैसे एक कच्छाधारी और दूजे पजामे वाले को आज के दिन में अलग बगल खड़ा कर दो, पर जरूरी नहीं उनमें से एक भी समकालीन हो। दोनों बीती सदी के हो सकते हैं। या फिराक साहब की बानी में जवाहरलाल और मैथिलीशरण दो एक मील की दूरी पर, और जवाहरलाल तथा हैरल्ड मैकमिलन हजारों मील की दूरी पर, मगर हमवक्त कौन, हमवक्त तो जवाहर और हैरल्ड, चूंकि कविराज, बकौल शायर जनाब, तो मध्यकालीन सदी में हैं।

एक और उपमा लें तो पुराना हुआ व्यर्थ। जैसे एन.आर.आई. और मातृभाषा। पहली पीढ़ी के लिए उनकी मातृभाषा बोलने लायक है, दूसरी के लिए याद करने के लिए, और तीसरी के लिए वह संग्रहालय अवशेष। ज्यादा से ज्यादा दादी नानी से सुने इक्का दुक्का लफ्ज कभी उछाल दो, मुस्करा लो, मस्त बढ़ चलो, काम में लग जाओ, जहां ये लफ्ज व्यर्थ, बेमाने, अटकाव हैं।

लब्वोलुबाब यह कि इनडोर प्लान्टनुमा बुजुर्ग पीढ़ी, जो धूप सेंकने, हवा पाने, बाहर रखी जब दिख जाती, तो यादमुक्त इसलिए भी दिखती कि उनके चारों और फैले समय में ऐसा कोई छेद नहीं था, कि भूली भूली याद घुस आये। वे हवा धूप में, हम लिफ्ट के बटन में, दोनों अपनी अपनी उम्र के हिसाब से व्यस्त। वे क्या जानते हैं, कुछ जानते भी हैं, भूले से उस बूढ़ी के बारे में, अवकाश की कोई डोर नहीं कि किसी से किसी तक खींच ले?

तो कोई अगर इस औरत के बारे में कुछ जानता था, जो उनकी तरह बूढ़ी थी, तो हमारे कान नहीं पड़ा।

जो हमारे कान पड़ीं वे अलग तरह की बातें थीं। ऐं वें शब्द, जो कह के फूंक मार दिये जाते और लापरवाही से हवा में तिरते हुए, इस कान उस कान उतर आते, और कभी कभी चिड़िया बन फुदक लेते। और हम पल दो पल अपने महत्वपूर्ण काम से सिर उठा के उनकी फुदक फुदक चूं चूं का चस्का ले लेते।

कि वह मर चुकी है और ऐसे लोग हैं जिन्होंने उसकी अंत्येष्टि देख रखी है।

कि वह छक्का है, बीच वाली, न आदमी, न औरत और दोनों का शिकार करती/करता है, तो बचना ऐ हसीनों लो वह आ गयी।

कि वह पागल है, कभी हुए दंगों के किसी दिन के बाद से।

कि वह खूनी है, उनके खून की प्यासी जिन्होंने उसके अपनों के संग कोई हादसा बरपाया और वे कट मिट गये, और जो लावारिस लाशें मिलती हैं और कल्ल के अनसुलझे मामले हैं, उनके पीछे उसी के कातिलाने वार हैं।

कि वह आतंकवादी गिरोह के लिए जासूसी करती है।

कि वह गांधियन है, जो अपने में ठीकठाक किस्म के लोग हैं, पर न इस तरफ कुछ काम के, न उस तरफ किसी काम के, और क्या जाता है, पड़ा रहने दो उन्हें, जिस भी तरफ वे चले आयें।

कि वह रोबोट है, चाइनीज बम से लैस, और कोई छेड़े छुए तो फट जायेगी और शांघाई की बादशाहत बच जायेगी।

जो भी थी वह, थी जरूर, इसका दावा मैं करता हूं। चाहे धुआं, जो औरत आकार में लहर जाता, चाहे हाड़ मांस का पुतला, या मशीन, इन आंखों ने उसे बार बार देखा है। लगातार, बारम्बार, हरकिनार। कभी बाहरकत, कभी बेहरकत। कभी नदी पर पड़े पुल को पार करते हुए, कभी सड़क लांघते, कभी गली में मंथर गति में डोलते। कभी ईंटों की ढेरी पर खड़ी दूर कुछ घूरती, कभी शहर में लगातार चलते सड़क इमारत इत्यादि निर्माण कार्य के बीच ठसके से फिरती।

मेरी खिड़की से नदी और पुल नजर आते हैं। मैंने अपनी मेज एकदम पास खींच दी है ताकि लैपटॉप से सर उठाऊं तो बाहर का नजारा दिखे। पुल, नदी, शहर-ए-रौनक।

तभी वह भी दिख जाती।

एक लम्बी चौड़ी काया पुल पर बड़ी आ रही है। आदमी कि औरत? उड़ती कि चलती? स्केट पर फिसलती? सादी सी धोती में जो इधर वाली या उधर वाली, कोई भी पहन सकती है, पल्लु पीछे फड़फड़ाती मानो डैने फैलाये बाज या गिद्ध, हाथ में छड़ी जो ठोंकती कम, डंडे की तरह फहराती ज्यादा, हवा में सांय से काटती, यों कि अदृश्य लमहों को, पुरानी कथाओं के इशारों को,... बड़ी आती... बड़ी आ रही है... जितना बड़ी आ रही है उतनी बूढ़ी होती जा रही है, और कभी निरीह, कभी खतरनाक लग रही है, और हमेशा ऐसी लग रही है कि उसे देख लें बेशक, फब्ती कस लें जी में आ जाये तो, मुंह चिढ़ा दें चुपके से मन चाहे तो, पर इससे अधिक छिड़ने या छेड़ने की दरकार नहीं बनती।

आती और बेंच पर बैठ जाती और ठोस हो जाती।

मानो इसके पहले वह असल नहीं है! तितली, पक्षी, धुआं है! फर्र फर्र, फड़ फड़, लरजिश भर।

आती और पत्थर बन जाती।

पहले और बाद का दरमियान जितने सवाल समेट लाये हों बेंच पर आ, पथरा जाते। निःशब्द और निःजुम्बिश। चिरस्थिर बुत।

हो सकता है सचमुच वह असल तभी होती जब बेंच बन जाती! वहीं से उठता हो धुआं और हवा में आकार पा, शहर की गलियों में और नदी के पुल पर लहराता हो और फिर पत्थर में लौट आता हो?

या फिर यही है द पॉवर ऑफ इमेज। छवि की शक्ति। कि जो एक तस्वीर जेहन पर खुब गयी, वही बस खुब गयी! बाकी छवियों को यों परे ढकेलते हुए कि दिखें भी, मगर टिकें नहीं।

तो बूढ़ी बस बेंच पर। और जहां भी दिखी, वह मरीचिका, बेंच पर है तो 'वह रही बूढ़ी'।

बल्कि नहीं भी है तो भी वहीं है। और हम कहने भी लगे कि बूढ़ी बेंच पर हमेशा बैठी

रहती है।

मजाकिया सी बात है पर अपने दफ्तर की खिड़की से जब उसे देखता, पुल पर बूढ़ी होते बूढ़े आते, तो उसी पल बेंच को भी देखता, खिड़की के ठीक आगे, नदी किनारे, जैसे उसी एक पल में वह उधर भी होगी।

और होती!

बहरहाल बात का निचोड़ यूं कि यहां है एक शहर, खून, पचड़ों, क्रूरताओं पर खड़ा, नयी घड़ी की तरह चलता, साफ बांट में हसीन टिकटिकाता, और है उसमें रहती, फिरती, बैठती, जो चाहे करती, एक बूढ़ी औरत, जो हर चीज के परे है, चाहे नियम कानून, चाहे जीवन, चाहे लिंग, चाहे मौसम, चाहे रंग, चाहे बनठन, चाहे फन और कोई उसे छूता छेड़ता नहीं।

अजीब लगने वाली बात है। जिस शहर में हर चीज प्रोग्रेड है और सबका समय और जगह और सबब तय है, और हम मेहरबान होकर देखते हैं कि घड़ी कहे बारह और बारह बजे की बस चल पड़े, और कहे तीन पंद्रह और सवा तीन की गाड़ी छुक छुक करने लगे और उसके बीच यह औरत है, पैदल पार की बत्ती लाल, पर सड़क क्रॉस कर रही है और कोई कुछ नहीं बोलता, और क्रेन पुरानी बिल्डिंग के जिस मलबे को उठा के हवा में घुमाते हुए लॉरी में भर रही है वह ऐन उस पर यों खड़ी है कि फिंक्ने के लिए ही और क्रेनचालक चुप है, और बेंच पर तो वह बैठी ही रहती है, सूरज ढल चुका तब भी, मॉरल पुलिस की सीटी बज गयी तब भी, कि दफा हो अश्लील, अशिष्ट, एकलिंग, विपरीत लिंग कामुक जोड़े, और डंडा फटकते इन सिरफिरों को सायों से खींच बाहर करने में जुटे हैं, पर औरत जहां तहां, आजाद, खड़ी, बैठी, फिरती, मनचली, अड़ी है। या भूत है। या बेकार है।

उसे कोई कुछ नहीं कहता। न ट्रैफिक पुलिस फटकार मारते हैं, न कन्स्ट्रक्शन मजदूर सीमेण्ट मिक्सर में पटक देते हैं, न गाड़ियां पीपीं पोंपों गुस्साती हैं, न नैतिकता के रक्षक दांत पीस के सीटी बजाते हैं। बल्कि मशीन, गाड़ी, जनता, यों दायें बायें हो जाते हैं, ज्यों फर्शीं सलाम देने। और वह शाही, भुतही, बर्बाद, जो कह लो, सामने से निकल जाती है और बेंच पर बैठी है।

बहरहाल, वह मर गयी।

या अगर पहले भी मर चुकी थी, तो इस बार फिर मर गयी, और अबके उसकी मौत का एक गवाह में बना।

मैं जान रहा हूं यह कोई तरीका नहीं है कहानी कहने का। कि अंत इतनी जल्दी बता दें। पर एक तो यह, कि मुझे अभी भी, पूरी पक्की तरह से साफ बांट का मोह नहीं हो पाया है। स्पष्ट आकार न हो, सिलसिलेवार चरण न बनें कि पहला, फिर अगला, और अगला, तब अंत, तो जरूर कोई कशिश मुझे खींचती है। बल्कि शहर, नदी, लोगों, दीवारों की यह साफ खांचेबंदी जरा बेचैन, अभी भी कर देती है। यह कारण हो सकता है कि औरों के मुकाबले मैं अपने काम से सर ज्यादा दफे उठा लेता, उसकी छवि की लरजिश पर। दिलचस्पी से देख लेता। कुछ प्रशंसाभाव, कुछ रश्क, कि वाह, कोई है जो अपनी सी बनी रही।

दूसरी बात यह कि जब तय ही नहीं कि अंत अंत में ही होता है तो कौन सा शुरू और किसका अंत? क्या मालूम उसकी मौत के संग किस्सा खत्म? और अगर वह पहले भी मर चुकी थी तो यह क्या चल रहा था उस अंत के आगे? उसकी अगली मौत तक? पता नहीं क्या सिलसिला हो जो घटे चले जा रहा है और क्रम किधर से बनेगा कि तरतीब बने?

बस यह कि उसकी एक मौत मैंने भी देखी। उसी बेंच पर। तब तक वह और बूढ़ी हो गयी थी और गाड़ी से उसे कोई लाता और गमला माफिक उठा के निकालता और बेंच पर रख देता और हवा धूप दिखा कर बाद वापस गाड़ी से लिवा ले जाता।

उस वक्त भी मुझे यह नहीं मालूम था कि उसे दफनाया जायेगा या जलाया जायेगा पर यह

जरूर मेरे मन में कौंधा, जब मैं भी दौड़ा उसे उठाने कि अरे कितनी जरा सी वह हो गयी है माप में और न कब्र बड़ी चाहिए, न लकड़ी ज्यादा। पहले की मर्दाना चाल और लहीम शहीम नाप सिकुड़ता चला गया है और जितनी जगह एक बच्चे को चाहिए, नदी के इस पार या उस, उतनी भर काफी होगी।

मैं कैसे कह दूँ कि कुछ टुकड़े बिना बयान किये लांघ तो नहीं गया जब मालूम ही नहीं यहाँ सिलसिलेवार बढ़त कौन सी होगी? जब जो मौत मैंने देखी एक और— या ज्यादा— मौत के पहले या बाद वाली हो सकती है। हां यह कह सकता हूँ कि इस वाली मौत के पहले चंद ऐसे मौके आये जब मैंने उसे बिल्कुल करीब से देखा। बहुत ज्यादा बार नहीं पर इतना कि असहज सी झिझक जो कड़ियों को उसके सामने पड़ने पर हो जाती, वह मुझमें नहीं रही और अब ले दे कर हल्का सा मनोरंजन भाव था या मामूली सी जिज्ञासा। इनसे मेरे काम पर कोई बुरा असर तो पड़ना नहीं था और वैसे इंशयोरेंस का यह काम निपट उबाऊ था तो मुफ्त का जरा लुत्फ उठाने में हर्ज ही क्या?

मेरी खिड़की से बाहर नदी, पुल, आसमान के फ्रेम में वह दिख जाती। दूर से पास आती। बेंच की ओर मुड़ने के पहले हमारे फाटक पर सुस्ता लेती। कभी लगता था मुझे देख रही है और की-बोर्ड पर चलते मेरे हाथ अचकचा से जाते और सर गर्दन में जरा धंसता, बुजुर्गवार के प्रति आदतन नमस्कार में, और उंगलियां भी कुछ हाथ जोड़ सा देतीं, पर कम्प्यूटर से बिना उठे, काम को बिना रोके। पता नहीं उसने देखा कि नहीं, जवाब तो नहीं दिया, या मैंने ही देखा नहीं, वापस अपने काम में। बीच के यह लमहे पलक झपक भर थे।

मगर यह जरूर हुआ कि इन झलकियों का मैं आदी हो गया और बूढ़ी के सामने पड़ने पर औरों की तरह कन्नी काटने, दबे पांव निकल जाने की घबराहट नहीं रही। ऑफिस छोड़ते समय नीचे उतर के अपनी कार की तरफ मुड़ता और पुल पर फड़ फड़ जाती उसकी पीठ देखता तो हस्बेमामूल पास बनी बेंच की तरफ निगाह घुमाता जैसे हां, वहीं बैठी मिलेगी, भले ही उसे पुल पर जाते देख रहा हूँ!

यही करके मुड़ गया था और गाड़ी का दरवाजा खोलने को हुआ कि कदम पलट के बेंच की तरफ चल दिये। मुझे साथ लगाये!

बेंच कुछ ही गज की दूरी पर थी। किसी उर्नीदी जिज्ञासा में मैं उस तक जा रहा था।

पर पास पहुंचा तो पांव अटकते से हो गये, जैसे नोटिस लगा हो 'यहां आना मना है'। तभी मैंने उस पर पड़ी एक पत्रिका देख ली। लगा सुबह बूढ़ी के हाथ में इसे देखा था और लगते ही इसी तरह वह तादृश्य हो गयी— सुबह, हमारे फाटक पर, एक हाथ में डंडा, दूसरे में यह पत्रिका। बेंच पर भूल गयी है, मैं झुका कि उठा लूं, पर ऐसा हो गया कि चोरी करता हूँ, कोई देख तो नहीं रहा? उसी के लिए संभाल रहा हूँ, मैं खुद पर खिझाया, जब दिखेगी, दे दूंगा। तो भी मेरी पीठ पर उग आयी आंखें चारों तरफ दौड़ गयीं। गधी सी इक पत्रिका के पीछे मन में चोर? जिसे, मुमकिन है, बुढ़िया भूली नहीं, फेंक ही गयी हो कि बस, देख लिया जितना देखना था। जैसाकि हम पत्रिकाओं के संग करते हैं।

बरसात, हवा, सूरज, कूड़ा बीनने वाला, कुत्ता, बिल्ली, कौवे, कबूतर कोई उसे एकदम भंगार न कर दें, यह सोच फिर भी मैंने उसे उठा लिया होगा। मैं खुद को इतनी सफाई क्यों दे रहा हूँ, चिढ़ता हुआ भी! अरे उठाना है उठाओ, नहीं तो रहने दो पड़ी, और लापरवाही से हाथ बढ़ा के मैंने पत्रिका उठा ली थी।

उसके कवर पर हमारी ऑफिस बिल्डिंग थी। उल्टा पल्टा। आर्किटेक्चर की पत्रिका है। पुरानी इमारतों की तस्वीरें हैं। छोटी ईंट, मेहराबें, झरोखे, गुम्बद, बेलबूटीदार जालियां। कोठियां, किले। हवेलियां, महल। हमारी बिल्डिंग की अंदर भी तस्वीरें थीं। वाह वाह, बूढ़ी को मजा आया होगा, जिसे आये दिन सामने देखती हूँ वही इन पन्नों में! उठा लायी होगी पत्रिका कि चलो यहां भी देखूँ, वहां भी, इसे उसे एक संग!

है हमारी बिल्डिंग कवर पर होने लायक। अंग्रेजों के जमाने की, देसी और विलायती दोनों

तर्ज के जोड़ जमाव। बड़ी शान बधारी होगी अंग्रेज 'नवाब' ने इसमें। मरना और राज का मरना कितना दुखदाई रहा होगा! बड़ा सा हमारा सिंहद्वार जिस पर पत्थर के गुलदस्ते खुदे हैं। सामने दीवार पर कंगूरे। बरामदे के गोल खम्भे। छत पर मोटे गुम्बद, पतली मीनारें। और झरोखे में लकड़ी की नक्काशी है तो विक्टोरियन टाइल भी।

अंदर फूल पत्ती की मोजेक की फर्श। ऊंची छत से लटके झाड़ फानूस। गोल जीना, पुरानी फायर प्लेस, भारी भरकम सोफे। जिन पर बैठते ही राजकाल में धंसा जा सकता है! पेपर कप में कॉफी लेकर बैठे हो, पर रंगीन चमकदार वर्दी में खड़े बैरे की ट्रे से राजसी गिलास में कोई पेय उठा रहे हों, ऐसा तसव्वुर कर सकते हो।

कालीन भी उसी जमाने का है। 'पेजली' डिजायन का, पुरानी महक का, पुराने चूहों द्वारा जहां तहां कुतरा हुआ, पुरानी सीलन और एलर्जी उड़ाता, लाउंज में फैला और गलियारे से होता हुआ, पुरानी घुमावदार लकड़ी की सीढ़ियों को करकराता। ढहने चली, ऐसी बची, सुंदर स्पाइरल स्टेयरकेस।

असल मसला 'मेन्टेनेंस' का है, वर्ना शहर में इस तरह की अनापशनाप इमारतें हुआ करती थीं। जब यहां हाथी रहते थे। मगर शांघाईकरण ने उन्हें पछाड़ दिया। हटा ही दिया। उनकी मोटी दीवारों में टेलिफोन, बिजली, ऐन शैन के नये केबल और तार लगते नहीं। ऐसी दीवारें जो तोड़ी नहीं तो झुकेंगी नहीं। उन्हें साफ नहीं, उनका सफाया ही कर देना पड़ता है।

अब शहर में भूले भटके ऐसे मकानात मिलेंगे। कुछ को सरकार ने औने पौने दाम में खरीद कर सरकारी अतिथिगृह या पर्यटक ऑफिस बना लिया है। कुछेक को प्राइवेट कम्पनियों ने कौड़ियों के मूल्य में लेकर पांच सितारा होटल बना दिया है। हमारी इमारत जस की तस रह गयी चूंकि बाँस के बाप की है, जिनकी सनक है कि उनके जीतेजी इसका आधुनिकीकरण नहीं होगा। अनप्रोफेशनल डिजाइन! बाँस चिड़चिड़ाते और बूट फटकारते निकल जाते। लाचार, बाप के रहते, जो स्ट्रोक से आधे रह गये थे, पर हुक्म चलाने वाला आधा उसी आधे में था।

अच्छी मुसीबत थी और इसकी बात जब न तब उठती रहती, क्योंकि आये दिन 'मेन्टेनेंस' का मसला उठता। पानी का पाइप पुराना, गल चुका है, दीवारों में रिसता पानी बिजली के तार में जा रहा है, मगर दीवार न तोड़ें तो पाइप कैसे बदलें और दीवार तो तोड़ी नहीं जा सकती। उधर न छुओ, खतरनाक स्पार्क है, इधर न छुल जाये, करेन्ट लग सकता है, मगर तोड़ी नहीं जा सकती। खम्भे, दीवार खड़े रहे, उन पर लगे स्विच, उनमें अटे तार, पुरानी जगह पड़े रहे, और इलाज यह निकाला कि पानी बिजली आदि की सप्लाई के लिए ऊपर, खुले में तार खींच दिये जायें, बटन ठोक दिये जायें। सब तरफ सफेद पट्टी के भीतर हमारे तार फिट हो गये।

दूसरे मल्टीनेशनल ऑफिसों के बरक्स हम फूहड़ और धिचे पिचे नजर पड़ते।

सफाई पुताई वालों को अलग ऐतराज। इन पुरानी हवेलियों के नाज रखरे! ऐसी कलाकारिता कि सीधा कुछ है ही नहीं! घुमावदार, उठानदार, गढ़ेदार, जालीदार, नक्काशीदार, आले, दर, दरीचे। स्तम्भ, शिखर, शमाएं। मतलब यह कि पॉलिश हो या पुताई, या रोज की झड़ाई, सब जगह हाथ पहुंचाना सांसत का काम और वक्त की बरबादी। अड़ंगा डालने को डटे हैं वर्ना रेडियेटर, हीटर, कूलर, गीजर, सब तो खुले में लटके, लिपटे तारों से टंगे चलते हैं।

सारी पुरातनता धरी की धरी! कमाई जीरो, खर्च रोते रहो! जब तब किसी विज्ञापन या फिल्म का फोटो-शूट इस पूवर्जपन को परिदृश्य बना लेता और हमें जेबखर्च थमा देता, मगर उससे क्या होता? सफाई कर्मचारियों की फौज जो मजबूरी में पल रही थी, उसका चाय पानी भी इससे न निकलता!

कुल मिला कर बात यह कि खूबसूरती अपनी जगह, काम अपनी जगह। ये टेढ़ी मेढ़ी, अव्यवहारिक चीजें, नाना दादी की निशानियां बेकार हैं, सब मानते। आज चाहिए साफ, सीधे, सुनिश्चित आकार, कि एक हाथ घुमाओ और शूंस से पूरे पर फिर जाये। यह नहीं कि बात बेबात रफ्तार अटक

जाये, कहीं धंसे, तो कहीं फंसे, तो कहीं गिर ही पड़े। आदमकालीन मेज, कुर्सियां, खिसकती नहीं, उनसे बच कर चलो, यानी सीधी, फुर्तीली, कॉरपरेट चाल गयी भाड़ में, टेढ़े मेढ़े, लुढ़के पुढ़के, लचकते बचते, चलो। बैठ गये तो उठना दूबर। कालीन पर पैर गया तो पैबंद और उधड़न में उलझ गया। सीढ़ी पर चले तो चरमराते हुए चकराने लगे। कम्पनी ऐसे नहीं चलती। कम्पनी की चुस्ती दूसरी है। कम्पनी की दक्षता कुछ नहीं रोकता। लद् फद्, संभल संभल, ये कम्पनी के माफिक नहीं। डर वर, रोक टोक, रहने हैं तो कम्पनी को भूल जाओ, जाने दो जहां कहीं वह हाथी चले गये हैं, अपनी मस्तानी अलसायी चाल लिये।

हममें से ज्यादातर ऐसे थे जो पुरानी स्टैयरकेस पर भूल से टेक भी नहीं देते। ऑफिस के पीछे, बाहर निकल कर, एक सही आकार की स्टील की सीढ़ी थी। वे बगल की सीढ़ी छोड़, दूर, बाहर वाली से चढ़ते और ज्यादा तेजी से। एक दिन लिफ्ट बन जायेगी पर अभी हम तिमंजिला हैं और पांच माले होंगे तब कानून इजाजत देगा कि बटन दबाओ, ऊपर जाओ, नीचे आओ, फिर ऊपर जाओ, फिर नीचे आओ, जूँऽऽ... शूँऽऽ...। चतुर, निपुण।

मुझमें, मगर, जरा जुरा, पुरानी बेवकूफियों का लुत्फ बाकी है! यहां का नहीं हूं शायद इसलिए और जहां से आया हूं वहां शांघाई अभी नहीं पहुंचा है इसलिए। और दादा जी हुक्का गुड़गुडाते हैं, जिन्हें याद करके 'होम सिक' हो लेता हूं। पल भर को पुराना युग, पुराना समय भा जाता है। ऐसे में पैरों को सीढ़ियों के घुमाव और नथुनों को उस पर मढ़ी कालीन की सीलन, बुरी नहीं लगती। एहतियात से चढ़ता हूं और जहां घूम जाता हूं, तथा नीचे वालों की आंखें नहीं पहुंचतीं, वहां से, कभी कभी पुराने युग का रईसजादा बन जाता हूं। हाथ आगे तान उसमें काल्पनिक तलवार! ऊपर आते आते कभी नया युग आ मिलता है और मेरी तलवार तलवार रहती है पर मैं नॉन रेजिडेण्ट अमीर भारतीय दूल्हा बन जाता हूं। पारम्परिक शान शौकत से देश लौटा हूं शादी मनाने। सिल्क पजामा, ब्रोकेड की अचकन, सिर पर साफा, हाथ में तलवार, जब में डॉलर, पांव में जूतियां, सालियां और उनकी सहेलियों की खी खी खिलखिल, डॉलर डॉलर शोख चीखें। बाँस के दरवाजे को खटखटाने के पहले वह सजा धजा बेडरूम है जहां सेज पर मेरा इंतजार हो रहा है। शैतानी से अपनी नमकीन सालियों को टेल देता हूं, एक एक से निपटूंगा, छैला बाबू हूं मैं, और फ्लाइंग किस हथेली से फूंक कर दरवाजा खोलने को बड़ा देता हूं और बाँस की 'कम इन' पर ऑफिशियल कपाट और ऑफिशियल चेहरा आगे कर देता हूं!

जिसका जमाना ही पुराना उसे तो और हो आयी होगी पुरानी उमंग, पुरानी इमारत देख कर। निरर्थक दिनचर्या में हल्का सा स्पंदन आ गया होगा, जब किसी बच्चे ठाले ने पत्रिका पढ़ पुढ़ के सामने डाल दी होगी— 'अरे यहां तो मैं सैर करती जाती हूं'। आकर फाटक पर खड़ी हुई होगी, एक हाथ में पत्रिका, दूसरे में डंडा, आंख इधर फिर उधर। हम पर, फिर नीचे। वही बिल्डिंग है, पुलक! जैसी पुलक बच्चे को या बूढ़े को हो सकती है। हल्की फुल्की, यों ही।

अच्छा है न, जब जीवन किनारे आ लगा है, भयंकर बुढ़ापे में, तो जरा सी जुम्बिश, जरा सा स्वाद पल भर को धंसान से बाहर ले आता है। उसको देखना जिसकी तस्वीर हाथ में है, दिल और दिन को चमक दे गये हैं, अब चलो, बेंच पर बैठो, बहें नदी के संग, इमारत पीछे, पत्रिका बगल में।

ऐसे ही होना चाहिए। शांत बैठो, नदी को निहारो, हम नमस्कार करेंगे, तुम नमस्कार से खुश रहोगे। अपने जमाने के चोंचले आज के जमाने पर नहीं थोपो। अजीब पुरानी कोई सनक, जो बड़े बूढ़ों का मर्ज हो जाये और हम सबकी मुसीबत हो जाये। सुविधाजनक नहीं, सस्ता नहीं, सरल नहीं, पर जिद हो जाये कि यही सलीका है, तमीज है। न शांति से रहेंगे, न रहने देंगे। कोने कोटरों में मकड़ी के जाले भर रहे हैं पर हटायें नहीं जायेंगे। जाले उन्हें सतरंगी डोरे लगते होंगे और अपनी कमजोर नजर से सूझता नहीं होगा कि जहां आप थे वहां से खिसक ली दुनिया, और अब वह जहां है वहां आप नहीं।

मुझमें बूढ़ी के लिए हमदर्दी का जज्बा उठा। वह ठीक है। नदी बहती है, वह बैठती है, किसी को क्या गुरेज! मुझे पत्रिका वाली बात उसके लिए अच्छी लगी। असल और नकल का मजा उसके रीते मन में। अपने से मुस्करा दी हो शायद, जैसे कोई करिश्मा जो उसी ने रचा हो!

तभी उसकी पत्रिका मैंने उसके लिए संभाल ली है।

दिन दिन भर और ओवर टाइम भी, अपनी खिड़की पर बैठा लैपटॉप पर खटा खटा खटा खटा। बीच बीच में सिर उठा के नदी को देख लेना। फिर खटाखटा खटाखटा।

सीमेण्ट से पटे किनारों के बीच बहती नदी सुंदर लगती। धूप रहती और लोगबाग व्यस्त। सूर्यास्त के बाद वहां चाट, भुट्टे, मूंगफली वाले टोकरा खोमचा लिये आवाज लगाने लगते और तफरीह करने लोग बच्चों के संग निकल आते। तब भी नदी सुंदर रहती। पता भी नहीं चलता कब शाम और गहरा गयी और रिवर साइड पार्क के बंद होने का ऐलान करती चौकीदार की सीटी बजने लगी। लोग चले गये, कुछ बत्तियां रह गयीं और बीच में गाड़ी गहरी नदी। अभी भी सुंदर।

तब उसके किनारों पर पैट्रोल करती पुलिस जीप दिख जाती, अंधेरे में उसकी हेडलाइट चमकती जैसे जासूस और उसकी टार्च। पर मुझे तब भी नदी सुंदर लगती। मानो किनारे पर कोई हाउस बोट है, धीमे से बढ़ती, जिसका प्रकाश पानी में मासूम डोल गया।

क्यों नहीं मुझे वे धमकाऊ लगीं? क्यों नहीं हवा में शक्कीपन लगा? क्यों नहीं कुछ याद आया? इतनी पुलिस? इतनी चुप्पी? इतनी जासूसी? इतनी तरक्की? इतनी खुशहाली? एक बूढ़ी औरत? बरसात का धुएं की महक पर लटकना?

इसका जिक्र जरूरी है। यहां जैसी बारिश कहीं नहीं और ऐसा भी नहीं कि बचपन से आज तक मैंने बारिश न देखी हो। पर यहां जैसी नहीं।

एक ग्रे रंग की चादर फहराने लगती है। फहराना बंद करके गहराने लगती है। भारी होती जाती है, नीचे उतरती जाती है, सारे पे ढक जाती है, चुप्पा पड़ी रहती है।

कहीं उछलती उड़ती बदलियां नहीं। बस ग्रे चादर जो धातु सी भारी हो गयी है।

तब हवा चलती है। पर चादर नहीं हिलती। धुएं की बसांध फैलती है। जलांध की। राख की। कहां है हवा जो पता नहीं चल रही?

पर मैं विचलित नहीं होता। कोई नहीं होता। हम ओवर टाइम में बिजी हैं। शायद हम सूंधते नहीं। फुर्सत नहीं है। हम तो सिगरेट फूंक के जो छल्ले बनाते हैं, उसी धुएं तक हैं। ये भी हो सकता है कि बेध्यानी में धुएं के किसी और गुल्ले के पीछे चल दिये और अप्रत्याशित पर पहुंच गये, मसलन अर्थी पर धुंआता अधजला मुर्दा, तो भी काम न भूलेंगे। बल्कि कुछेक को तो ऐसी महारत हासिल है कि उसे भी काम में ले आयेंगे और देखने का, फोटो खींचने का, टिकट लगा देंगे। 'सी सी डेड बॉडी', राहगीर को रोकेंगे, 'टेक फोटो, रियल रियल'...

तो जो स्थिति थी वह यह कि जीवन सुंदर था और शहर शांघाई को मात करने पर आमादा और उसके बीच बहती नदी में सुचारु बंटे शहर और उसके लोगों की सलोनी छवियां लहरतीं और शहर की बत्तियां नये नवेले धनवानों के सिक्के पानी में भर देतीं और जिन ऊंचे बिजनेस हाउसज से यह जगमगा हो रहा था वे रईसी ढब में जल में झलकते और सब कुछ सुखी सम्पन्न था, हवा में मंद मंद डोलता और रह रह के पान में फुलझड़ियों सा थिरक जाता, जैसे जीने की पुलक पुलकित हुई जाती हो।

इस सारे में उस तिलिस्मी बुढ़िया का दिख जाना, भूल जाना, कोई मायने नहीं रखता था। अटपटी चीजों को याद रखना भी एक खलल है। उनके मायने उभरने लग गये तो फिर सोच में पड़ जाओगे, कहां अटायें जानना चाहेंगे। काहें?

वह हमारे लिए, पूरे परिदृश्य का कोई भुलाये पड़ा रहने वाला जर्रा थी। शहर के आसमान में

बही आयी बिल्डिंग क्रेन, जैसे खिड़की से नजर पड़ने पर हमारी गर्दन उचका देती, बस उतनी सी चौंक पैदा करने वाली। या धुआं जो बरसात में होता। उसकी तरह अकारण। परिचित, फजूल, बेध्वनि।

कितनी बेआवाज थी उसकी छवि, मैं उस दिन समझा जब वह बोली। जिस दिन वह फिर आयी और हमारे फाटक पर खड़ी हुई और ऊपर मेरी खिड़की आदि पर एक सरसरी निगाह डाल कर हमेशा की तरह बेंच बनके नदी को घूरने चली गयी।

मैंने अकस्मात नजर पत्रिका पर डाली जिसे मैंने संभाल लिया था और काम जारी रखे हुए ही उस पर उड़ आयी धूल को फूंक मारी। हा बुढ़ापा, मैंने दयालुता और उदारता से मन ही मन कहा। काम में ढील नहीं दी जाती, लंच ब्रेक में दे आऊंगा, मेरे स्फूर्त मन ने उसके निस्पंद तन से कहा। नदी किनारे। पीठ नहीं, पत्थर। खुश रहो, मैंने पीठ को दुआ दी। बेचारी, निस्पंद तो होगी ही, भीतर बाहर खाली और लगभग मुर्दाभय। हमें देख और पत्रिका देख जरा सांस आयी होगी।

बड़े अदब से मैं पत्रिका लेकर बेंच की तरफ गया था। वह सन्नाटी पत्थर! 'माता जी', मैंने पुकारा। अचानक असहज और खुद ही पथराता! पत्थर से बोल रहा हूं, बेवकूफ हूं। किसी की समाधि भंग कर रहा हूं, घुसपैठिया क्या?

'माता जी...'

'मेरे पास आपकी पत्रिका है'। फुसफुसाया, जैसे जुल्म कबूलता।

वह मुड़ी। पीछे नदी। उसके सिर के आर पार जलप्रपात। सूरज की तेजी में नर्म, नम, बूढ़ें नुकीली कांच की किरचें बनी हुईं।

उसने मुझे देखा और वापस मुड़ गयी।

मैं खड़ा हूं। मेरे हाथ में दो टके की पत्रिका है। रख दो और फूट लो, मैं चिढ़ा। रख के लम्बे डग भर के जाने को हुआ, जैसे मुझे यहां होने का हक नहीं।

पीठ की आंखों ने देखा वह इशारे से बुला रही है। पत्रिका उसके हाथ में है, आंखें मुझ पर।

'मैं तुम्हारी माता की माता की माता हूं'। रोबदार आवाज आयी। जैसे डांट रही हो।

मैं झेंप गया।

घबरा भी गया। कोई धुआं सा बेध्वनि हो और एकदम से इतनी बुलंद आवाज दे, तो तालमेल डगडगा जाता है।

आवाज ऐसी कि मालिक, कि मर्द, कि औरत, कि गायक, कि प्रिन्सिपल...?

मैं सफाई देने लगा। जबकि जल्दी से हटना चाहता था। 'मैं देखता हूं आपको... अपने कमरे से... आपकी पत्रिका छूट गयी थी... इसलिए मैंने... आप दिखती हैं... नदी को देखते हुए... मैं यहीं होता हूं... सारे दिन... इन्श्योरेंस कम्पनी...'

मैं हकलाता सा। 'वह...' मैंने हमारी बिल्डिंग की तरफ इशारा किया।

बूढ़ी पत्रिका उठाये थी।

'जी जी... यही... वही... हमारी बिल्डिंग। पुरानी, पर उतनी पुरानी नहीं। चीनी ड्रैगन हैं अल्मारी पर। स्टेन ग्लास रोशनदानों में। पीतल के गुलदान हैं। सफाई के लिए पूरी फौज है, वैक्यूम क्लीनर बेकार। मार गर्द भरी हुई...'

क्या बक रहा हूं? वही जो पत्रिका में वह पढ़ चुकी है!

'दो सौ'। वह बोली।

साल, मैंने समझा। 'जी हां' सिर हिलाने लगा। 'अट्ठारवीं सदी'।

'भूत', वह बोली।

ऐं! मैं समझा। दो सौ भूत! 'हां', मैंने औपचारिक मुस्कान दी और नमस्कार करके मुड़

गया। बूढ़ों की बकवास।

यहीं बात खत्म हो गयी होती और हो भी जानी चाहिए थी। क्या डोर हमारे बीच? वह बूढ़ी, मैं छोरा, वह बीती, मैं नवेला, वह आदमकालीन, मैं आधुनिकतमकालीन। मतलब यह कि मैं अपनी दिनचर्या में कायम रहता, काफी सही सही अपनी जिन्दगी में, और अपने भविष्य में, जो काफी सही सही लगता था। ऐलान हो रहे थे कि हम भविष्य के सुपर पावर हैं और वह भविष्य पास आता जा रहा था और मेरे जैसों की तादात उसमें थी और हमीं उसे बना रहे थे।

मैं मुड़ गया था और सहज भी हो गया था कि पीछे से चटाख ठूठा सुनाई पड़ा। बूढ़ी हंस रही है। मुझ पर।

आगे नयी इमारतें थीं, नीली शीशे वाली। उनमें रहो तो तुम बाहर देख सकते हो, बाहर से हमें कोई नहीं देख सकता। भीतर रह कर हम यह भी तय कर सकते हैं कि बाहर की कितनी ध्वनि, कितनी, रोशनी, हम अपने तक आने दें।

मैं पीछे नहीं देखूंगा, मैं आगे हुआ। पता नहीं कौन सा कोण था कि बूढ़ी का प्रतिबिम्ब एक से अनेक में मल्टीप्लाई होकर, नयी नीली दीवार पर झलकें मारने लगा।

जैसे उसकी छवि के टिकट किसी ने जबान की नोक से चाट चाट कर सारे में चिपका दिये हों!

टिकटों का जमाना गया, मैं मन ही मन खीझा। ई मेल, एसएमएस

उंह, मैंने अपने ऑफिस का दरवाजा खोला, बंद किया और बूढ़ी को भूल गया और भूला रहता अगर बदा न होता कि फिर हम एक दूसरे के सम्मुख पड़ जायें।

जैसे कोई मिचौली हमारे बीच!

मामला यह कि एक दिन हमारे बॉस के बाप का इंतकाल हो गया। दफ्तर में शोक मनाया गया और हम घर पर भी गये शोक मनाने। अखबारों में उनकी प्रशस्ति निकली और पिछले दिनों के उत्साही व सिद्धहस्त उद्योगपति में उनका शुमार हुआ। दंगों में राख हुए शहर के नवनिर्माण के बनावनहार। इन्हीं ने शुरू किया है वह सिलसिला जिसके चलते ही आने वाले कल में हम... इत्यादि...।

मौत उपरांत की सारी रस्में पूरी हुईं, काम फिर नियमित, निर्धारित, नियंत्रित हुआ कि बॉस को ध्यान आ गया कि अब हमारी बिल्डिंग का आधुनिकीकरण हो जाना चाहिए। आर्किटेक्ट, कॉन्ट्रैक्टर, बिल्डर का आना जाना शुरू हो गया और हम सब एक दूसरे को बताने लगे कि ओवर-ड्यू, हाई टाइम, इम्पैरेटिव, और बिल्डिंग में यहां क्रैक हैं, और यहां दीवार भुरभुरा रही है और जर्जर, खंडहर, सीढ़ियों पर एक आध हड्डी नहीं टूटी है, तो यह नयी हड्डियों का जोर है, पर अच्छा है बॉस विलम्ब के फेवर में नहीं और ठीक ही है कि वालिद चल बसे और बिल्कुल बिल्कुल जुट पड़े।

एक फैशनेबल आर्किटेक्ट जोड़े को कॉन्ट्रैक्ट देकर, हमारा ऑफिस किराये की किसी जगह में अस्थायी तौर पर शिफ्ट हो गया। पुरानी बिल्डिंग को भीतर से तोड़ने ब्लास्टर बुलाये गये। कुछ ही पलों में धुएं धुएं के भीतर, छत सिर पर उठाये खम्भे ढेर हो गये। बाहर की तरफ खाली दिशा देख कर ब्लास्ट किये गये, कि पेड़ की तरह दीवार नीचे आ जाये, आसपास की प्रगति को बिन छोड़े। तो भी सारे में बड़े बड़े टूटे टुकड़ों के पहाड़ बन गये और धूल उड़ने लगी। हथौड़े पड़ने लगे कि टुकड़ों का बुरादा बन जाये और उन्हें आसानी से हटा दिया जाये। जहां तहां पट्टियों, रस्सियों, बल्लियों से लिपटी खड़ी हमारी बिल्डिंग के अवशेष ऐसे लगते कि दुर्घटना के बाद जख्मी हाथ पैर कटवा के पड़े हों!

हम सैर करते हुए आ जाते कि चलें देखें उधर के रंग रोगन को, मिन्न की ममी बनी अपनी बिल्डिंग को, धूल के गुबार में लापता अपने दिनों को। हल्की सी कसक भी हो लेती— दरवाजे दरीचे

सब उखड़ चुके थे और जो बचा था वह भी चलाचली के आलम में!

उन्हीं दिनों की बात है कि वह बूढ़ी औरत भी आने लगी और दिख जाती धूल, पत्थर, लक्कड़, के बीच। हम व्यस्त थे, उसे भूल चुके थे, यों ही, उसे देख, कुछ बोलना हो तो बोल देते, आपस में। बूढ़ी बेंच छोड़ इधर आ जमी है। फाटक टूटा तो खुला मान गयी है! कोई उसे रोकता टोकता नहीं है, जहां हो घुस जाती है, न बीम का ऊपर गिरने का डर, न धूल के बवंडर से अधियाने का। खड़ी हो जाती है, कहीं दीवारों के नुचने के पास, कहीं आले अल्मारियों के उखाड़े जाने के आगे, कहीं कालीन पर्दे टैपस्ट्री के खिंचने फुचड़ने की बगल में, और फिर चली जाती है, और फिर लौट आती है। बूढ़ी के लिए कुछ भी तरौताजा फिल्म बन जाती है!

अब एक दिन मैं इधर खड़ा हूं और बाँस भी मुआइना करने आ पहुंचे हैं। 'अच्छा है' मुझसे कहते हैं। 'जरूरत थी। कयामत आयी रखी थी। एक एक पर्जा बदलना पड़ेगा। कम्प्लीट शैम्बल'।

'पर सुंदर'। मैंने कह दिया। पत्रिका का कवर मन में उभरा। सामने बूढ़ी उभरी।

मैंने हाथ जोड़ दिये तो बाँस ने उधर देखा। 'अरे आप' करके लपके। हाथों से सहारा देकर वह बूढ़ी को आगे ले आये और चारों ओर की गतिविधियों का ब्यौरा देने लगे।

क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि कोई जतन करके मुझे यह पुरानी बातें न बताता, अगर उस पल मैं वहां न पहुंचा होता? जब बाँस भी आ गये और वह आ गयी और मैं वहीं था? ऐसे ही तो पल जुड़ जाते हैं। नहीं तो निकल जाते हैं।

तो पता चला कि यह उसका घर था। कभी। बाँस के मरहूम बाप, बूढ़ी के पति के यहां नौकरी करते थे। दंगों में बाँस के परिवार ने बूढ़ी के परिवार को अपने घर पनाह दी। जब तक हम हैं तुम्हें कोई नहीं खू सकता। आसपास के ढेरों घरों में आग लगी पर इस इमारत की पुख्ता दीवारों में जरा जुरा खरोंच से ज्यादा नहीं लगा। मगर बूढ़ी के बाप दादा यहां लौटे नहीं। बाँस के घर वालों ने कहा था कि स्थिति हद से आगे गुजर गयी है, अब हम गारंटी नहीं दे सकते, भाग लीजिये। वे भाग लिये। घर उन्हीं को औने पौने दाम सौंप कर। बूढ़ी बच गयी। अभी भी आती है।

पता नहीं मुझे क्या लगा। शायद मुझे मैं बहुत बेवकूफ लगा।

क्या हम अपने संग आंखमिचौली खेलते हैं? जो इमारत उखाड़ रहे हैं उसकी गर्द आंख कान में भर जाती है और फिर तो न देखने को कुछ, न सुनने को! तो हमें क्या पता किसने तोड़ा? जब पता ही नहीं तो क्या किया? अपराध तो नहीं न? हमने तो नहीं न?

बूढ़ी को बाँस ने एक कुर्सी मंगा के उस पर बिठा दिया। उसके चारों ओर से घर के अस्थिपंजर उठते रहे। कबाड़, जो बोरियों में ठूस कर निकाला जा रहा था, पत्थर रेती, जो क्रेन लूट की तरह उठा ले जा रही थी, लष्टम पष्टम, जो पहचान से परे हो गये थे।

वह बैठी रही, पुराना सामान निकलता रहा। एक बार मैंने उसे कहते सुना 'वह नक्काशी अखरोट की लकड़ी पर है'। तो क्या संभाल कर फेंकें?

वह बैठी रही, फिर चली गयी होगी।

जब हम वापस आ गये काम पर, तो वह दूसरी जगह थी। नीली शीशे सी दीवारें थीं, जिनमें मेरी खिड़की नहीं थी। मैं लिफ्ट से सीधा सातवीं मंजिल पर जाता और उस ऊंचाई और आराम से, नदी को अपने नीचे औंधी पड़ी देखता।

अरसे बाद एक गाड़ी एक दिन नीचे रुकी। देखा दो लोग उसे निकाल रहे हैं। उठा के उसे बेंच पर रख देते हैं। नदी किनारे।

दिन भर तो मैं काम करता रहा। शाम को ऑफिस से निकला तो जिज्ञासा हुई। मुड़ा बेंच की तरफ। बढ़ लिया उधर और वह दिखी।

‘प्रणाम माता जी’, मैंने कहा।

इतने दिनों में वह कितनी नन्हीं सी हो गयी थी। जैसे शिंक कर देने वाली मशीन में डल कर आयी हो। मिनी बुद्ध की मूरत।

निश्चल देखती।

किसी को कुछ कहना चाहिए, मैंने मौन तोड़ना चाहा। तभी शहर के स्वर उठे। प्रार्थना की घंटियां और खुदा से दुआ मांगती पुकार। समवेत स्वर। नदी के दोनों पार से।

नयी बिल्डिंग में आने के बाद से ये स्वर सुनायी पड़ने बंद हो गये थे, नयी दीवारों के पार नहीं जाते थे। बहुत दिनों बाद इन्हें मैं सुन रहा था। अचानक स्वर अजनबी लगे, कुछ डरा भी रहे थे, जैसे पूजा की नहीं जंग की ध्वनि हो। लोग भूल जाते हैं और परिचित बदल जाते हैं।

कुछ कहूं, मुझे लगा। ‘बिल्डिंग बन गयी है’, मैं बोला। ‘पूरा शहर वहां से देख सकते हैं’।

मौसम शांत था, न ठंडा, न गरम।

बुढ़िया ने गर्दन घुमायी और मुड़ी। उसके चेहरे की निरी झाड़ियां और झुर्रियां और तिल और मस्से और खाल के झूले और उमर के दाग मेरी तरफ मुड़े। मानो शहर की पगडंडियां, सड़कें, टीले, टीबे, कुड्यां, तलैया, दर्रे और नालियां, बाड़ी, झाड़ी, ढलान, पठार, शहर का यह कोना और वह भी, पूरा नक्शा फैला हुआ! मैं हैरान हुआ जैसे सच उसके चेहरे पर राहें, इमारतें, हों, जिनमें धूल धुआं बह रहा हो।

उसके प्राचीन चेहरे की भूलभुलैया में शहर सरसरा रहा था। सब दर्ज और गर्क और नदी भी वहीं बहती है और शायद हाथी भी हैं जिन्हें हम भूल गये हैं या जो मर गये हैं या जो मार डाले गये हैं!

इसी तरह वह भी जिस दिन हमने उसे बेंच पर मरा हुआ पाया।